श्री तन्त्रालोक

रचनाकार

आचार्य अभिनवगुप्त

भाषाटीका

ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू

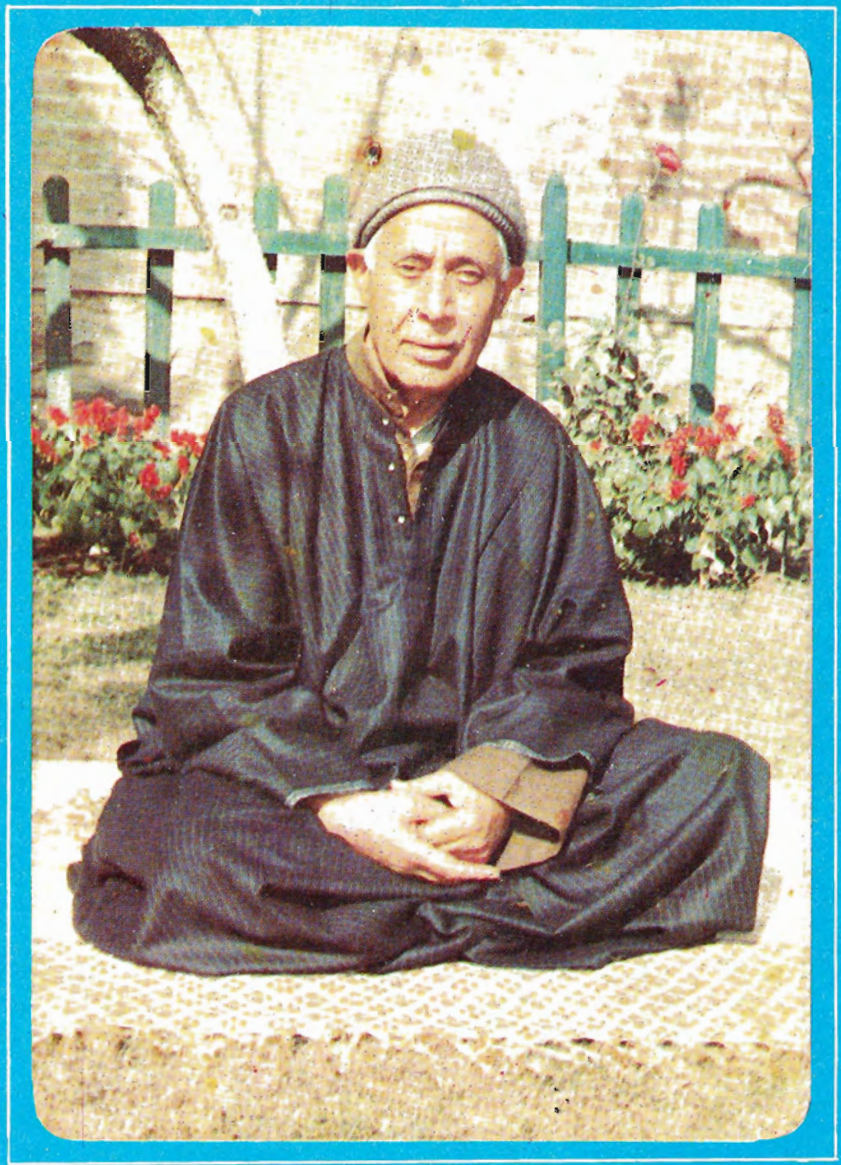

प्रकाशक

ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट

श्री तन्त्रालोक

रचनाकार

आचार्य अभिनवगुप्त

भाषाटीका

ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू

प्रकाशक

ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट

प्रकाशक :
ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट
ईश्वर, निशात कश्मीर

•

प्रथम संस्करण : 1995

•

मूल्य : 20.00
©ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट, कश्मीर

•

मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस,
ए-95, सेक्टर-5
नोएडा-201 301

•

पुस्तक प्राप्तिस्थान :

(i) ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, निशात, कश्मीर
(ii) ईश्वर आश्रम ट्रस्ट (प्रशासनिक कार्यालय)
2 महेन्द्र नगर, कलाल रोड, जम्मू (तवी) दूरभाष : 555755
(iii) ईश्वर आश्रम ट्रस्ट (दिल्ली कार्यालय)
B-10, 7371 वसन्त कुंज, नई दिल्ली

पूर्ववक्तव्य

आज वह पुण्य दिवस है जिस दिन हमारे इष्टदेवतुल्य शिव-स्वरूप आचार्य अभिनवगुप्त जी भैरव-भाव में प्रविष्ट हुए थे। आज पौष-मास की कृष्णदशमी है। भैरव-भाव में समाविष्ट होकर आज ही हमारे आचार्यवर्य अभिनवगुप्तजी महाराज ने भैरवस्तुति की है। मुझे भी श्रीअभिनवगुप्तजी की प्रेरणा से आज इस शुभ-कार्य की ओर प्रवृत्ति हुई है।

श्रीतन्त्रालोक एक महान् ग्रन्थ है, जिस में हमारे आचार्यदेव ने त्रिकशास्त्र-संबन्धी समस्त प्रणालियां वर्णन की हैं, अर्थात् — अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा द्वैतरूप साढे तीन शाखाओं का प्रकाश विस्तारपूर्वक कर लिया है। आगे आचार्य भी कहता है:—

अध्युष्टसन्तानिस्रोतः सारभूतरसाहृतिम्।
विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलान्सान्॥

अत एव "प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान् भवति" इस दृष्टि को समक्ष रख कर मैं इस महान् तन्त्रालोक की भाषाटीका लिखने का प्रयास करता हूं और मानसिक इच्छा मुझे यही है कि यह शुभकार्य मेरा भगवान् स्वच्छन्दनाथाभिन्न अभिनवगुप्त जी महाराज की दया से निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो जाये, और यदि यह मेरा कार्य समाप्त होगया तो मैं अपने आप को पूर्ण-काम समझूंगा।

पौष-कृष्ण-दशमी
संवत् विक्रमी – २०२३
ई० संवत् — १९६६
सप्तऋषिसंवत्- ५०४२

ईश्वराश्रमवासी
शिवभक्तों का अनुचर
राजानकलक्ष्मण

श्री गुरवे नमः।

दो शब्द

प्रातः स्मरणीय हमारे गुरुदेव श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने ई० सन् 1966 पौष-कृष्ण-दशमी के दिन अपने सोमवासरीय मौन-व्रत में, तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक का हिन्दी अनुवाद बड़े उत्साह और हर्ष से लिखना प्रारम्भ किया था। लगभग एक दो मास वे इस कार्य को संलग्नता से करते रहे, किन्तु बाद में कई विघ्नों के उपस्थित होने पर वे इस महान कार्य को संपन्न न कर पाये। अपनी इस क्षति को पूर्ण करने के लिए ही महाराज जी ने 1987 में त्रिक-शास्त्र-रहस्य-प्रक्रिया का अमूल्य ग्रन्थ लिख कर जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त किया। हमने गत वर्ष उस ग्रन्थ को स्वामी जी की जयन्ती पर प्रकाशित किया। अब इस वर्ष 1995 की शुभ जयन्ती पर, ईश्वर-आश्रम-ट्रस्ट के द्वारा हम महाराज जी के तन्त्रलोक पर लिखे गये 45 श्लोकों का विस्तृत टिप्पणी सहित अर्थ, गुरुवर्य की लेखनी में ही छपवा रहे हैं। यह पांडुलिपि मेरे पास इतने वर्षों तक सुरक्षित रही। यद्यपि ये कुल 45 ही श्लोक हैं किन्तु हमारे सर्वस्व गुरुदेव ने इनकी टिप्पणी में गागर में सागर भर दिया है। इन्हें पढ़ कर त्रिक-शास्त्र-अनुयायी-पाठक-वृन्द अवय लाभान्वित होगा। ऐसा होगा तो हम सबों का प्रयास भी सफल होगा।

गुरुजन्म जयन्ती
वैशाख कृष्ण द्वादशी
तदनुसार
26 अप्रैल, बुधवार, 1995

गुरु-कृपावगाहिनी
प्रभा देवी

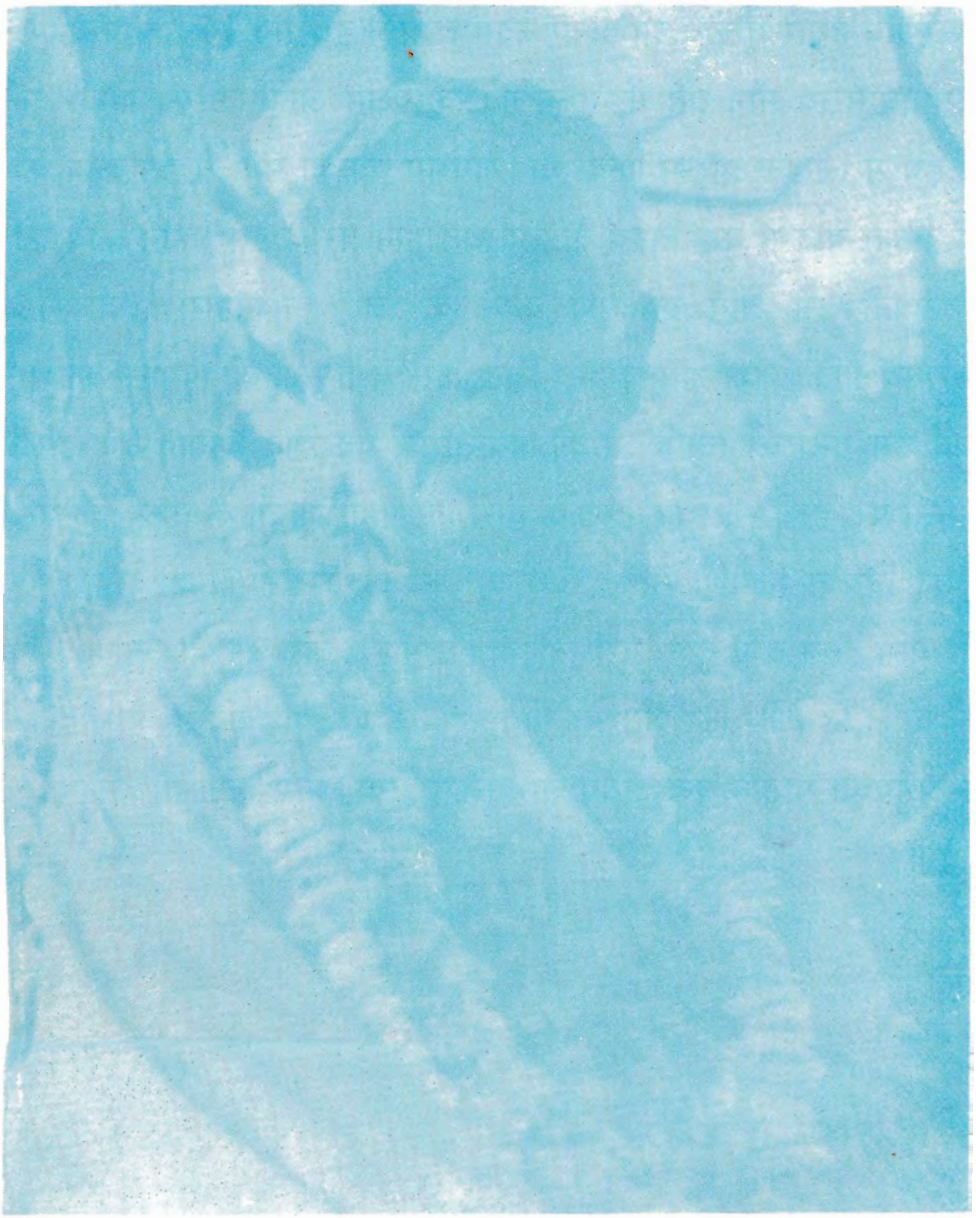

ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू

श्री

तन्त्रालोकः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचितः।
श्रीगुप्तगंगान्तर्गतेश्वराश्रमवास्तव्यराजानकलक्ष्मणाविरचित-
भाषाटीकोपेतः।

प्रथममाह्निकम्।

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

अं- अभिनवगुप्त जी को जन्म देने से महान् उत्सव से संपन्न बनी हुई जो विमला नाम वाली माता है तथा परिपूर्ण-भैरवसत्ता-संपन्न सिंह-गुप्त अथवा नरसिंहगुप्त-नाम से प्रसिद्ध जो पिता है – उन दोनों की महायोलापदशा अथवा आद्ययाग में सस्फुर बनी हुआ एवं अलौकिक कुण्डगोल-नाम वाले महाद्रव्य से भरा हुआ जो अनुत्तर-अमृत-स्वरूप (उन दोनों का) सारभूत हृदय है, वही हृदय मुझे स्वात्मसंवित्तिप्रकाशन-पर्यन्त चमक उठे, अर्थात् स्वात्म-संवित् का सार बना हुआ जो तन्त्रालोक नाम वाला महाशास्त्र है उसे पूर्ण-रूप से प्रकाशित करे! ॥ १ ॥

तन्त्रालोक-विवेक-कर्ता आचार्य जयरथ जी ने इस ग्रन्थकार के मंगलाचरण-श्लोक में पर-त्रिक-शक्तियों का समावेश वर्णन किया है और उसी के अनुसार इस श्लोक के तीन अर्थ किये हैं। पराशक्ति में पराशक्ति, परापराशक्ति और अपराशक्ति का समावेश है। अतः पराशक्ति में पराशक्ति का आश्रय लेकर इस श्लोक में यूं अर्थ निर्धारित करना चाहिए- 'विमला'– इस जननी-वाचक शब्द से निर्मल शुद्ध-स्वातन्त्र्यशक्ति समझना चाहिए। 'नरसिंहगुप्त'– इस जनक-वाचक शब्द से पञ्चशक्तिसुनिर्भर स्वतन्त्र शिव मान लेना चाहिये। इन दोनों अर्थात् विश्वोत्तीर्ण-रूप स्वतन्त्र शिव और विश्वमय स्वातंत्र्य-शक्ति के पारस्परिक संघट्ट से अर्थात् विश्वोत्तीर्णता में विश्वमयता तथा

नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम् ।
मातृमानप्रमेयांशशूलाम्बुजकृतास्पदाम् ॥ २ ॥

जो पराशक्ति परिपूर्ण चित्प्रकाश संपन्न सर्वतः देदीप्यमान् बनी हुई है, तथा जो प्रमातृरूप, प्रमाणरूप और प्रमेयरूप तीन कमलात्मक तथा उन्मनात्मक अरों के ऊपर सर्वदा ठहरी हुई है- ऐसी सदैव चिद्भैरवनाथ से संयुक्त बनी हुई परादेवी की मैं स्तुति करता हूं, अर्थात् उसी में समावेश करता हूं ॥ २ ॥

नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः ।
प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम् ॥ ३ ॥

जो अपरा देवी सदैव विश्वविलासनात्मक नृत्य करने में लगे हुए भैरवनाथ के शरीर अर्थात् स्वरूप में ठहरी हुई है। इसी आशय से वह अपरादेवी भेदरूपी प्रमेयदशा में उसी प्रकार चमकती हुई रहती है मानो वर्षाकालीन मेघ-प्रपूरित आकाश में विद्युत् अर्थात् बिजली चमकती हो- उसी अपरादेवी की मैं स्तुति करता हूं ॥ ३ ॥

+ विश्वमयता में विश्वोत्तीर्णता का विकास होता है- इसी की ओर यहां 'स्फुरित-भावविसर्गमयम्' में संकेत है। इसी अवस्था को हृदय के नाम से अलंकृत किया गया है, और यही अवस्था चिदानन्द की अवस्था से भी उत्कृष्ट जगदानन्द-अवस्था कहलाती है- इसी पारमार्थिक हृदय अथवा जगदानन्द की अवस्था की प्राप्ति के लिए आचार्य जी लालायित हो रहे हैं।

पराशक्ति में परापराशक्ति का प्रकाश इस प्रथम श्लोक में निम्नलिखित रूप से निश्चय करना चाहिए। समस्त प्रमाणप्रमेयमय जगत को उत्पन्न करने वाली 'जननी' कहलाती है; जो समस्त जगत का आप्यायन करने वाली 'विमलकला' नाम से अमाकला रूप ही मानी गई है; वही 'अभिनवसृष्टिमहा' अर्थात् सदैव सृष्टिदशा में होते हुए भी स्वातन्त्र्य-रूप अपने प्रकाश से संयुक्त बनी हुई रहती है। इस में समस्त जगत का संहार करने वाला ही 'जनक' शब्द से समझना चाहिए। यहां 'पंचमुखगुप्तरुचिः' का अर्थ यह है कि भावसंहारकारी पर-प्रमातृ-रूप जनक सदैव विषय-ग्रहण-काल में अपनी परप्रमातृदशा को नहीं छोड़ता। इत्येवम् सृष्टिसंहारदशा के संमेलापात्मक दशा में जो विकास प्राप्त होजाता है, उसी श्रीकालसंकर्षिणीधाम को यहां हृदय समझना चाहिए। पराशक्ति में अपरादेवी का परामर्श तो प्रथम श्लोक की भाषाटीका में मैं ने स्वयं लिखा है ॥ १ ॥

दीप्रज्योतिश्छटाप्लुष्टभेदबन्धत्रयं स्फुरत् ।
स्ताज्ज्ञानशूलं सत्पक्षविपक्षोत्कर्तनक्षमम् ॥ ४ ॥

निर्निरोध प्रज्वलित समस्त इन्द्रियवृत्तियों रूपी प्रकाशमय छटाओं से जो ज्ञान-स्वरूप शूल समस्त भेदप्रथारूपी तीनों अर्थात् आणव-मायीय-कार्ममलात्मक बन्धनों को एकबारगी जला देता है ; ऐसा ही यह परापरा-शक्ति-स्वरूप ज्ञान रूपी त्रिशूल पारमार्थिक जगदानन्द-शोभनास्थिति के सभी विपक्षों अर्थात् जगदानन्दास्थिति का अपहरण करने वाले असत्य-आनन्दात्मक अवस्थाओं का नाश करने में समर्थ हो जाय ॥ ४ ॥

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा
क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-
मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ॥ ५ ॥

स्वातन्त्र्यशक्तिः अर्थात् परिपूर्ण शिवाभिन्न स्वतंत्ररूपा परा शक्तिः, क्रम को भली भांति उत्पन्न करने की इच्छा (क्रमसंसिसृक्षा) अर्थात् जगत की उत्पत्ति करने के लिये पहिली इच्छा रूपा परापरा शक्तिः, क्रमात्मता- अर्थात् क्रम रूप काल का स्वरूप बनी हुई अपरा रूपा क्रिया शक्ति जो हैं ; वे ही तीन शक्तियां मुझे अपने स्वाभाविक अनुत्तर स्वरूप का साक्षात्कार कराती हुई मेरे हृदय में अपना स्थान बना लेवें ॥ ५ ॥

(श्लो० २) दूसरे श्लोक में आचार्यपाद परापरात्रिक में ठहरी हुई परा-शक्ति का विमर्श करते हैं, अत एव इस श्लोक में उस शक्ति को दो विशेषणों से अलंकृत किया है — 'परादेवी तथा भैरवयोगिनी' इति।

श्लोक ३) चूंकि अपरादेवी का परामर्श करने के बिना परापरा-देवी का परामर्श असंभव है, इस लिए तीसरे श्लोक में आचार्य जी परापरात्रिकान्तर्गत परापराशक्ति का विवेक ~~करते हैं देखते हैं~~ करने के बजाय अतिरिक्त अपरा-भेदरूपा शक्ति का विचार करते हैं ; इसी लिए इस देवी को 'शरीरस्थां' कहा है ।

(श्लो० ४) इस श्लोक में आचार्यपाद परापरात्रिक की परापरा-शक्ति का विचार करते हैं

श्लोक ५) इस पांचवें श्लोक में अभिनवगुप्तजी अपरात्रिक की तीनों पराशक्ति, परापरा-शक्ति और अपरा शक्ति का परामर्श करते हैं । तंत्रालोकविवेक में श्रीमान्

इस पूर्वोक्त रीति से पराद्वैक में, परापराद्वैक में तथा अपराद्वैक में ठहरी हुई देवियों को प्रणाम करके आचार्यपाद समस्त विघ्नों को दूर करने के लिए प्रथम में द्वैकशास्त्रसमुचित श्रीगणपति से प्रार्थना करते हैं —

*तद्देवताविभवभाविमहामरीचि-
चक्रेश्वरायितनिजस्थितिरेक एव ।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकांतिः
सम्यक्समुच्छलयतान्मम संविदाब्धिम् ॥ ६ ॥

एक ही अर्थात् अनन्यापेक्ष जो 'गणपतिः' अर्थात् समस्त इन्द्रिय-चक्रों में अपनी अहन्ता समर्पित करने वाला, अथवा सभी इन्द्रियों पर अहन्तारूपता से शासन करने वाला पति है; अतः एव समस्त इन्द्रिय-देवियों का मानो चक्रेश्वर बना हुआ है - वही परास्वातंत्र्यरूपा चिच्छक्ति का पुत्र अपनी स्वात्मस्थिति में ठहरा हुआ समस्त प्रमेयमय सोम रूपी जगत का प्रकाश बना हुआ मेरे संवित्-समुद्र को विकसित करे ॥ ६॥

अब श्रीगणपति का परामर्श करने के अनन्तर ग्रन्थकार अपने सभी कुलमार्गादि संबन्धी गुरु-जनों की स्तुति आरम्भ करते हैं —

रागारुणं ग्रन्थिबिलावकार्णं
यो जालमातानवितानवृत्ति ।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार
स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः ॥ ७ ॥

आचार्य जयरथ जी ने 'नरशक्तिशिवात्मकं विकम्' इस आधार पर इस अपराद्वैक-प्रतिपादक श्लोक का अर्थ किया है। इस में 'स्वातन्त्र्यशक्ति' का अर्थ उन्हों ने शिव लिया है, क्रमसोसिसृक्षा का अर्थ शक्ति लिया है और क्रमात्मता से नर को वर्णन किया है, पर मेरे विचार से यह अर्थ प्रकृत-विरुद्ध सा दिखाई देता है, यतः इस श्लोक में शक्तियों का विचार आचार्यपाद करते हैं न कि शिव का। यदि आचार्य जयरथ जी का ही ठीक होता तो आचार्यजी इन तीनों को शिव की विभूति (विभोर्विभूतिः) कहते हैं। शिव की विभूति तो शक्तियां ही हो सकती हैं परन्तु शिव ही शिव की विभूति कैसे कह सकते हैं। आगे आचार्य अभिनवगुप्त जी जानें और पाठक-गण जानें ॥ ५ ॥

(श्लो० ६) इस श्लोक में भी आचार्य जयरथ जी ने 'गणपति' के दो अर्थ लिए हैं। एक गणपति और दूसरा वटुकनाथ, जिस में उन्हों ने इन को अर्थात् गणपति को अपान-व्याप्ति की है और वटुकनाथ को प्राणव्याप्ति बताई है। मेरे विचार से यदि यहां आचार्यपाद गणपति से दो-गणेश और वटुक' अभीष्ट होते तो गणपति का विशेषण 'एक एव' कहां तक युक्तिसंगत होता ॥ ६ ॥

* वास्तव में समस्त इन्द्रियों का विषयग्रहणादि कार्य पूर्वोक्त परा-परापरा और अपरा-इन तीन शिवशक्तियों के ऐश्वर्य से सिद्ध होता है; इसी आशय की ओर '[illegible]तद्देवताविभवभावि' इस पद में संकेत है।

पृथ्वीतत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक एक संसार रूपी महाजाल है, जिस में विषयवासनाओं रूपी प्रलोभनों से अनेकानेक अज्ञानीजन रूपी मछलियां पकड़ी जाती हैं। यह महाजाल रागादिकों से सुरक्षित बना हुआ, माया-ग्रान्थि रूपी गांठों से व्याप्त, कलादि षट्कञ्चुकों से संयुक्त बना हुआ और देश, काल, आकार तथा सुखदुःखानन्तता से 'आतानावितानवृत्ति,— अर्थात् बड़ा लम्बा और चौड़ा है— इसी माया रूपी महाजाल का जिस ने एकबारगी बहिष्कार कर लिया है वही परमेश्वरसमावेशशाली श्रीश्रीमच्छन्दनाथ मेरे प्रति प्रसन्न बने रहें ॥ ७ ॥

वैयम्बकाभिहितसन्ततिताम्रपर्णी-
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाजः।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु-
कल्लोलकेलिकलनामलकर्णधाराः ॥ ८ ॥

हमारे पूर्वकालीन गुरु-जन त्र्यम्बकनाथ की शिवाद्वैतशाखा में कहे गये संप्रदाय रूपी ताम्रपर्णी नदी में परमार्थ रूपी मोतियों की असामान्य दीप्ति को धारण करने वाले हैं, तथा गहरे शास्त्रसमुद्र की लहरों की क्रीडा में निर्मल योग्य नाविक बने हुए हैं— ऐसे ही उन गुरुजनों की जय हो ॥ ८ ॥

(श्लो० ७) इस सातवें श्लोक में आचार्यपाद ने कुलप्रक्रिया के अवतारक श्रीमच्छन्दनाथ की स्तुति की है। प्रथमतः इस कुलप्रक्रिया का उपदेश भैरवनाथ के द्वारा उसकी शक्ति भैरवी को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् भैरवी के द्वारा श्रीमच्छन्दनाथ को प्राप्त हुआ, इत्यतः मच्छन्दनाथ को ही अवतारकनाथ अथवा तुर्यनाथ कहते हैं। कहा जाता है कि इसी मच्छन्दनाथ ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से इस संसार-मय महाजाल के ऊपर आठ महात्मा अपनी ही दीप्ति से चमचमाते हुए स्थापित किए, और सभी शक्तिपातविद्ध जनों को वे महात्मा यही सिखलाते हैं कि कैसे इस माया-जाल के फंदे में न आकर इस के ऊपर रहकर चमकना चाहिए।

माया के तीन रूप हैं— मायातत्त्व[1], मायाशक्ति[3] और मायाग्रन्थि[2]। इस सातवें श्लोक में आचार्यपाद माया के इस दूसरे रूप की ओर संकेत करते हैं ॥ ७ ॥

(श्लो० ८) इस श्लोक में शिवाद्वैतसंबन्धी सभी पूर्व गुरुजनों की स्तुति की गई है। इस त्रिक-शास्त्र की साढ़े तीन शाखायें हैं -- त्र्यम्बक-शाखा (अद्वैत-प्रधान), आमर्दक-शाखा (द्वैत-प्रधान), श्रीनाथ-शाखा (द्वैताद्वैत-प्रधान) और अर्ध-त्र्यम्बक-शाखा (अद्वैत-प्रधान कौलसंप्रदाययुक्त-शाखा)। इस श्लोक में अद्वैत-प्रधान-त्र्यम्बकशाखा और अद्वैत-कौल-प्रधान अर्धत्र्यम्बक-शाखा की ओर ही 'वैयम्बक'— इस शब्द में संकेत है।

कहा जाता है कि ताम्रपर्णी नदी मलयाचल से निकली है और इस नदी में बहुमूल्य मोती होते हैं ॥ ८ ॥

जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि प्रथितः।
तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरो भूतिराजश्च ॥९॥

जगत में विख्यात अद्वितीय गुरुदेव मोक्षलक्ष्मी-संपन्न श्रीकण्ठनाथ जी की जय हो, और उनके ही दूसरे रूप भगवान् महेश्वर तथा श्रीभूतिराज जी की भी जय हो ॥ ९ ॥

श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलवैनिःसृताः।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः ॥१०॥
तदास्वादभरावेशबृंहितां मातिषट्पदीम्।
गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः ॥११॥

श्रीसोमानन्द जी के संप्रदाय से और श्रीमान् उत्पलदेव जी से निकले हुए, भिन्न भिन्न दिशाओं में फैले हुए ज्ञान रूपी सुगन्धि के समूहों की जय हो ॥ १० ॥ उस ज्ञान की सुगन्धि के रसास्वादन की अधिकता के आवेश से बढ़ी हुई तथा व्याख्यान रूपी भिनाभिनाहट से मोहित करने वाली गुरुदेव लक्ष्मणगुप्त जी की बुद्धिरूपिणी भौंरी की हम स्तुति करते हैं ॥ ११ ॥

यः पूर्णानन्दविश्रान्तसर्वशास्त्रार्थपारगः।
स श्रीचुखुलको दिश्यादिष्टं मे गुरुहत्तमः ॥१२॥

जो पूर्णानन्द में विश्रांत होने के फलस्वरूप सभी शास्त्रों के अर्थों के पारंगत हुए हैं, वह मेरे उत्कृष्ट गुरुदेव अर्थात् श्रीनरसिंहगुप्त नाम वाले पिता श्रीचुखुलकनाथ मुझे अभीष्ट पद का मार्ग दिखायें ॥ १२ ॥

(श्लो० ९) शास्त्रों का कथन है कि जब कलियुग के प्रादुर्भूत होने पर समस्त शैवशास्त्रों का संप्रदाय पूर्ण रूप से लुप्तप्राय हुआ था, तब भगवान् शंकर जी कैलाश पर्वत में (श्रीकण्ठनाथ) जी के रूप में स्वयं प्रकट हुए, और उन्होंने ऋषि दुर्वासा के द्वारा ही समस्त शैव-शास्त्रों का संप्रदाय पुनः स्थापित करवाया। श्रीनाथ जी की भेदाभेदप्रधान शाखा में श्रीमान् (महेश्वरनाथ जी) हुए और अर्धत्र्यम्बक शाखा में श्रीमान् (भूतिराज जी) विख्यात हुए हैं — इन्हीं तीन आचार्यों की ओर इस श्लोक में संकेत है ॥ ९ ॥

(श्लो० १०, ११) इस दसवें और ग्यारवें श्लोक में श्रीमान् आचार्यपाद अपने गुरु, परमगुरु और परमेष्ठिगुरु की स्तुति करते हैं। आचार्यपाद जी के गुरुदेव श्रीलक्ष्मणगुप्त जी, परमगुरु श्री उत्पलदेव जी और परमेष्ठिगुरु श्रीसोमानन्द जी हुए हैं। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह हमारे आचार्यपाद के तत्त्वसंबन्धी तर्क के गुरु थे ॥ १०, ११

(श्लो० १२) हमारे आचार्यपाद के पिता का नाम नरसिंहगुप्त था। चुखुलकनाथ इन का दूसरा नाम था। • पिता को भी गुरु कहते हैं ॥ १२ ॥

अब आचार्यपाद श्रीशम्भुनाथ जी की स्तुति करते हैं, जो उनके कुलप्राक्रिया के सफल गुरुदेव हुए हैं —

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ
भगवत्या सह शंभुनाथ एकः।
यदुदीरितशासनांशभेमें
प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः ॥ १३ ॥

इस सारे संसार को मुक्त बनाने में जो समर्थ हैं, तथा जिस के कहे गये शास्त्रसंबन्धी मर्मों से मुझे यह दुर्बोध तथा दुर्लभ शास्त्र का मार्ग भली भांति प्रकट हुआ है, उसी अद्वितीय शंभुनाथ नाम वाले गुरुदेव की जय हो जो सदैव अपनी शुभा दूती भगवती के साथ रहा करते थे ॥ १३ ॥

सन्ति पद्धतयश्चित्राः सोतोभेदेषु भूयसा।
अनुत्तरषडर्धाख्यक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥ १४ ॥

वास्तव में इस अनुत्तर- त्रिकशास्त्र-क्रम में अनेकप्रणालियां तथा अनेक और आश्चर्य- जनक पद्धतियां अर्थात् उपाय विद्यमान हैं, परन्तु आजकल के समय में कोई एक पद्धति नहीं दृष्टि-गोचर होती, अर्थात् सारी पद्धतियां तथा प्रणालियां लुप्त हुई हैं ॥ १४ ॥

(श्लो० १३) वास्तव में कुलप्राक्रिया में किसी भी दीक्षादि कर्म में गुरुदेव को दूती के बिना अधिकार नहीं होता, इसी आशय से कुलप्राक्रिया के गुरु श्रीशंभुनाथ जी के साथ ही समानभाव से उसकी दूती श्रीभगवती की स्तुति की है। स्मरण रहे कि श्रीशंभुनाथ जी हमारे आचार्यपाद के ■ कुलसंप्रदाय के गुरु ही केवल न थे अपितु त्रिकशास्त्र के गुरु भी थे।

इस हमारे कुलसंप्रदाय में मातृशक्ति का अत्यधिक आदर है, यतः मातृशक्ति बड़ी प्रबलशक्ति है- इसी आशय से कुलसंप्रदाय के गुरु को दूतीरूप में मातृशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। कहा भी है —

योक्ता संवत्सरात्सिद्धिरिह पुंसां भयात्मनाम्।
सा सिद्धिस्तत्त्वनिष्ठानां स्त्रीणां द्वादशभिर्दिनैः।
अतः सुरूपां सुभगां सरूपां भावितात्मनाम्।
आदाय योषितं कुर्यादर्चनं यजनं व्रतम् ॥

इस का तात्पर्य यह है कि जो सिद्धि पुरुषों को एक वर्ष में प्राप्त होती है, वही सिद्धि स्त्रियों को केवल बारह दिनों में ही प्राप्त होती है — अतः दूती का साथ होना इस संप्रदाय में नितान्त आवश्यक है।

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः।
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥१५॥

शैवशास्त्रों की प्रणालियां लुप्त होने के कारण ही मुझे सत्पुरुषों ने, शिष्यों ने और गुरुभाइयों ने अनेक प्रकार से प्रार्थना की है - इत्यतः मैं अब इस वक्ष्यमाण प्रक्रिया-शास्त्र को परिपूर्णतया संपादन करूंगा, अर्थात् त्रिकशास्त्र की प्रणाली स्पष्टतया स्थापित करूंगा ॥ १५ ॥

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा श्री-
भट्टारिकांघ्रियुगलाद्गुरुसंततिर्या ।
* बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ॥ १६ ॥

श्रीभट्टनाथ अर्थात् श्रीसद्गुरुदेव शंभुनाथ जी के चरण-युगल से और भट्टारिका अर्थात् शंभुनाथ जी की भगवती नाम वाली दूती के पदपंकजों से गुरु-संतति अर्थात् उनके द्वारा उपदिष्ट हुआ जो ज्ञान है, वह ज्ञान तो परमशिवज्ञान के विरोधी अन्य समस्त भेदप्रथारूपी विष को समूल नष्ट करता है। उसी श्रीसद्गुरु तथा श्रीगुरुमाता के कहे हुए ज्ञान की उपासना अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास से प्रज्ज्वलित हुए बोध से देदीप्यमान् अभिनवगुप्त यह तन्त्रालोकशास्त्र रचता है ॥ १६ ॥

न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः ॥ १७ ॥

इस श्रीतन्त्रालोक में वैसी कोई भी बात नहीं होगी, जो परात्पर देवदेव भगवान् शंकर ने श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में अपने साक्षात् स्पष्ट शब्दों से या संकेतों से न कहा हो, अर्थात् जो भी इस् तन्त्रालोक में होगा, सारा का सारा श्रीमालिनीविजयोत्तर-तन्त्र के आधार पर ही होगा ॥ १७ ॥

* वास्तव में शिव-ज्ञान से अतिरिक्त अन्य सारा, बन्धक होने से, पाश ही पाश है। कहा भी है -

यात्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
परात्त्रिंशदतत्त्वादि तत्पाश उच्यते ॥

अतः मानव का परम कर्त्तव्य यही है कि सारा कुछ त्याग करके शिव-ज्ञान को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिये, जिस से पूर्णतया शिवसाक्षात्कारात्मिका स्थिति प्राप्त हो जाय

*दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥१८॥

जो स्वच्छन्दनाथ जी के पांच मुखों से इस ज्ञान-मार्ग मे दस शिवतन्त्रों से, अठारह रुद्रतन्त्रों से तथा चौंसठ भैरवतन्त्रों विभक्त होकर अवतारित हुआ है। वास्तव में उन सभी ९२ तन्त्रों का सारभूत शास्त्र अद्वैत-प्रधान त्रिकशास्त्र ही है और उस त्रिक-शास्त्र का सारभूत तन्त्र मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र ही है ॥१८॥

---

* भगवान् शंकर पांच शक्तियों से निर्भर है, जो शक्तियां— चिच्छक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति— इन पांच नामों से कही गई हैं। पञ्चशक्ति-निर्भर वह शिव मुख्यरूपतया सदैव अनुग्रहशक्तिमय है। हमारे आचार्यपाद ने परात्रीशिका-विवरण में आरम्भ में ही कहा है— "परमेश्वरो वस्तुतोऽनुग्रहात्मैव" भगवान् शंकर का अनुग्रह तन्त्र-रूपों में अवतरित हुआ है। वास्तव में सभी तन्त्र शिव का अपना स्वरूप है जो उस के स्वरूप में परा-वाग्-शक्ति में ही ठहरा हुआ रहता है। फिर अनुग्रह-शक्ति के प्रभाव से ही वह तन्त्र पश्यन्ती वाणी में अवतरण करता है। स्मरण रहे कि परा वाक् और पश्यन्ती वाक् में यह तन्त्र अभेदरूपता से ही ठहरा हुआ रहता है, और इन दो वाणीयों में प्रश्नोत्तररूपता अपने ही रूप में लीन है। तदनन्तर जब वह तन्त्र मध्यमा-वाक् में अवतरण करता है, उसी समय वाच्य-वाचकरूपता अथवा प्रश्नोत्तररूपता का सूत्रपात होने लगता है और उस के अनन्तर ही वह सारा तन्त्र स्पष्टरूपतया वैखरी वाणी में अवतरित होता है उस समय भगवान् शंकर श्रीस्वच्छन्दनाथ का रूप धारण करके अपनी चित्— इत्यादि पांच शक्तियों से पांच मुखों को प्रकट करता है, जिन पांच मुखों के नाम— ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर— ये हैं। इन पांच मुखों में से पहिले तीन मुख अर्थात् ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात दस भेदप्रधान तन्त्रशास्त्रों को प्रकट करते हैं, जिन तन्त्रों को शिवतन्त्र कहते हैं। अस्तु जब अवशिष्ट दो वक्त्र— वामदेव और अघोर इन पूर्वोक्त तीन मुखों के साथ समावेश करते हैं तो फिर भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्रों का आविर्भाव होता है। ये रुद्रतन्त्र अठारह हैं। और जब चिच्छक्तिप्रधान ईशानवक्त्र, आनन्दशक्तिप्रधान तत्पुरुषवक्त्र, इच्छाशक्तिप्रधान सद्योजातवक्त्र और ज्ञानशक्तिप्रधान वामदेववक्त्र परिपूर्ण क्रियाशक्तिप्रधान दक्षिणवक्त्र अर्थात् अघोरवक्त्र में युगपद्भाव से पूर्णरूप से समावेश करते हैं तो फिर अद्वैतप्रधानचौंसठ भैरवतन्त्रों का आविर्भाव होता है— इत्येवं अपनी स्वतंत्र अनुग्राहिका शक्ति से भगवान् स्वच्छन्दनाथ वैखरीदशा में इन पांचमुखों से बयानवे तन्त्रों को लोकाहितार्थ प्रकट करते हैं। इन बयानवे तन्त्रों का सारभूत शास्त्र श्रीश्रीमहामालिनीविजय-तंत्र है जिस के आधार पर हमारे आचार्यपाद श्रीतन्त्रालोक शास्त्र की रचना करते हैं

अतोऽत्रान्तर्गतं सर्वं संप्रदायोज्झितैर्बुधैः।
अदृष्टं प्रकटीकुर्मो गुरुनाथाज्ञया वयम् ॥ १९॥

चूंकि श्रीमालिनीविजयोत्तर में ही समस्त १२ तन्त्रों का रहस्यभूत सार अन्तर् निहित है - इसी कारण श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में वह सारा रहस्य-मय सार, जिसे अन्य सभी विद्वानों ने गुरुमुखागम से रहित होने से नहीं जाना है - उसी रहस्य को हम गुरुदेव की आज्ञा लेकर तन्त्रालोक-नाम वाले शास्त्र में प्रकट कर रहे हैं ॥ १९ ॥

अभिनवगुप्तस्य कृतिः
सेयं यस्योदिता गुरुभिरारव्या।
त्रिनयनचरणसरोरुह-
चिन्तनलब्धप्रसिद्धिरिति ॥ २० ॥

वही यह अभिनवगुप्त का शास्त्र है, जिस अभिनवगुप्त के लिए उनके गुरु-जनों ने यह उपाधि रखी है कि "अभिनवगुप्त जी तो त्रिनेत्र-धारी भगवान् शंकर के चरण-कमलों का चिन्तन करने से उत्तमोत्तम सिद्धि से संपन्न बना हुआ है" ॥ २० ॥

श्रीशम्भुनाथभास्कर-
चरणनिपातप्रभापगतसंकोचम्।
अभिनवगुप्तहृदम्बुज-
मेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः॥ २१ ॥

श्रीगुरुदेव श्रीशम्भुनाथ रूपी सूर्य-भगवान् की किरणों की दीप्ति के स्पर्श से खिला हुआ यह (वक्ष्यमाण शास्त्र) अभिनवगुप्त का हृदय है। इस अभिनवगुप्त [illegible] जी के (शास्त्र रूपी) हृदय कमल को आप सभी पाठक-गण श्रीमहादेव की समावेशरूपिणी पूजा के लिए संचय करें ॥ २१ ॥

❀ आदिवाक्यम्।

यही तो इस श्रीतन्त्रालोक-शास्त्र का महावाक्य के स्थान पर एक ही उत्कृष्ट वाक्य है, जिसे हमारे आचार्य ने आदिवाक्य नाम से अलंकृत किया है।

❀ इस आदिवाक्य शब्द का सूत्रपात करने से पाठकगण जान लेवें कि यहां तक जो भी आचार्य ने कहा है वह सारा आदिवाक्य अर्थात् इस शास्त्र का महावाक्य है - जिस में अभिधेय, प्रयोजन, अभिधान और संबन्ध अन्तर निहित हैं। पहिले पांच श्लोकों में परा, परापरा तथा अपरा - इस प्रकार अनेक प्रकार से विकार्य इस शास्त्र का अभिधेय है। छटे श्लोक में श्रीगणपति की स्तुति प्रसंगात् विघ्नों का नाश करने के लिए कही गई है। गुरुपरम्परा से जाना हुआ शास्त्र

अब यहाँ से आचार्यपाद उपोद्घात आरम्भ करते हैं
१०६ श्लोक तक ।

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ २२॥

यह बात तो समस्त शास्त्रों में कही गई है कि अज्ञान ही संसरण अर्थात् जन्म-मरण का कारण है और ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ॥ २२ ॥

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ २३॥

वास्तव में अज्ञान मल अर्थात् आणवमल को कहते हैं, जो आणव-मल संसार- अर्थात् मायीय-मल के अङ्कुर अर्थात् कार्म-मल का भी कारण है । यह बात तो स्पष्टरूपतया श्रीमालिनीविजयोत्तर-तंत्र में कही गई है ॥ २३ ॥

विशेषणेन बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके ।
संभावनां निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रवीत् ॥ २४॥

अज्ञान दो प्रकार का होता है- बुद्धिगत-अज्ञान और पुरुषगत अज्ञान । पर मालिनीविजयोत्तर में अज्ञान अर्थात् मल से किस अज्ञान की ओर संकेत किया है — इस पर कहते हैं कि मल अथवा अज्ञान का विशेषण "संसरांकुरकारणम्" मालिनीविजय में कहा है, वह विशेषण बुद्धिगत अज्ञान का नहीं हो सकता है; क्योंकि बुद्धि का प्रादुर्भाव तो संसार के अनन्तर हुआ है - इत्यतः वह संसार के अंकुर का कारण नहीं हो सकता । अत एव ऐसी भावना हटा कर पुरुषगत अज्ञान के नष्ट होने पर, भगवान् शंकरने, मोक्ष-प्राप्ति कही है ॥ २४॥

'तस्माद्गुरुक्रमायातं दिशन्नेति परं शिवम्'
इस नीति से परोपकार करते हुए स्वात्मरूप शिवस्थिति का साधन बन जाता है--इस प्रकार जीवन्मुक्ति प्रदान करता है- यही प्रधान तथा इस शास्त्र का प्रयोजन है । इसी के साथ संबन्धित गुरुसंकीर्तन- पर सात श्लोक कहे गये हैं, तथा इसी जीवन्मुक्ता रूपी प्रयोजन की महानता विशेषरूप से इकीसवें श्लोक में संकेत की गई है । इस शास्त्र का संबन्ध श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र के साथ है । उपोद्घात-प्रकरण के १०६ श्लोक में अभिधान 'श्रीतन्त्रालोक' इस शास्त्र का कहा गया है । इस प्रकार अभिधेय, प्रयोजन, अभिधान और संबन्ध इसी आदिवाक्य में अन्तर्निहित हैं ।

+ अपने आप को अपूर्ण मानना और इसी अपूर्णता की पूर्ति के लिए अभिलाष करना आणव-मल कहा जाता है । शरीर, कुटुम्ब इत्यादि पर ममता मायीय-मल कहा जाता है और मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं - इत्यादि रूपता-कार्ममल कहा गया है ।

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः॥२५॥

वास्तव में अज्ञान - ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता है। अज्ञान तो अपूर्ण ज्ञान को कहते हैं। यदि अज्ञान का अर्थ हम ज्ञान का सर्वथा अभाव लेंगे तो वह ज्ञान का सर्वथा अभाव तो एक मट्टी के ढेले में भी है, पर उस ढ़ेले में संसरण नहीं होता। अतः सिद्ध है कि अज्ञान शब्द का अर्थ अपूर्ण-ज्ञान ही है ॥२५॥

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्॥२६॥

इस लिए ज्ञेय अर्थात् नील,सुख आदि वस्तुवर्ग की जो संपूर्णरूपता अर्थात् शिवरूपता से जानना है, उस शिवरूपता से वंचित हो कर जो उन वस्तुओं को भेदरूपता से ही जानना है वही अज्ञान नाम से शिवसूत्रों में कहा गया है ॥२६॥

चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः॥२७॥

'चैतन्यमात्मा ज्ञानं बन्धः'— इन दो सूत्रों में पारस्परिक संधि करने से और संधि न करने से यही अर्थ स्पष्ट किया है कि अज्ञान वह ज्ञान है जिस में अपूर्णता है - अत एव वही अपूर्ण ज्ञान बन्धक होने से संसरण का हेतु बन जाता है ॥२७॥

अब आचार्यपाद इन्हीं दो सूत्रों की व्याख्या स्वयं ही निम्नलिखित तीन श्लोकों में करते हैं—

चैतन्यमिति भावान्तः शब्दः स्वातंत्र्यमात्रकम्।
अनाक्षिप्ताविशेषं सदाह सूत्रे पुरातने॥२८॥
द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रियां वा करणं च वा।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते॥२९
द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्यते।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्त्या निरूपितम्॥३०॥

चेतन - यह शब्द द्रव्याभिधायी है - इस शब्द से आत्मा के सारे धर्म अर्थात् सर्वज्ञता आदि तथा नित्यता आदि आक्षेप किये जाते हैं, परन्तु शिवसूत्र में जो चैतन्य - यह भाववाची शब्द है, वह आत्मा की आत्मता अथवा चेतनृ - कर्तृता का ही आक्षेप करता है। इसी लिए आचार्यपाद चैतन्य का अर्थ केवल स्वातन्त्र्य ही लेता है॥

'चैतन्यमात्मा'– इस पुरातन सूत्र में चैतन्य – यह भाववाचक शब्द स्वात्मा महेश्वर का केवल एक धर्म चेतनकर्तृत्व अथवा स्वातन्त्र्य ही सिद्ध करता है, जिस स्वातन्त्र्य ने आत्मा के अत्यान्त नित्यत्वादि विशेष-धर्मों का तिरस्कार किया है ॥२८॥

'ज्ञानं बन्धः'– इस दूसरे सूत्र में ज्ञान शब्द चिन्मात्र रूप आत्मा का द्वैत ही इस रीति से प्रकट करता है – "ज्ञप्तिः ज्ञानम्, ज्ञायते येन इति वा ज्ञानम्" – इस प्रकार क्रिया और करण दिखाता हुआ उस चैतन्य आत्मा का अज्ञान ही दिखलाता है ॥२९॥

इसी कारण से वह अज्ञान द्वैतप्रथा का हेतु होने के फलस्वरूप तुच्छ होने से बन्ध कहा गया है। अत एव वह अपूर्ण-ज्ञान रूप द्वैत ज्ञान नाश करने योग्य है – यह बात 'चैतन्यमात्मा' और 'ज्ञानं बन्धः'– की आवृति से प्रकट होती है, अर्थात् केवल स्वतन्त्रता आत्मा का स्वरूप है और उस आत्मा से भिन्नता का ज्ञान बन्ध अर्थात् संसरण का हेतु है – इत्यतः फिर से इन दो सूत्रों की संधि करके स्पष्ट होता है कि ज्ञानं बन्धः ही नहीं अज्ञानं बन्धः भी है, अर्थात् वही अपूर्ण ज्ञान वास्तव में अज्ञान है ॥३०॥

इसी आशय से आचार्यपाद मोक्ष का वास्तविक स्वरूप इस अगले श्लोक में सामने रखते हैं –

❀ स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु
तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन।
न मोक्षो नाम तन्नास्य
पृथङ्नामापि गृह्यते ॥३१॥

स्वतन्त्रात्मा के अतिरिक्त तुच्छ (भेदमय) अथवा अतुच्छ (अभेदमय) कुछ भी मोक्ष नहीं है। इत्यतः स्वतन्त्रात्मा को छोड़ कर त्रिकशास्त्र में मोक्ष की कोई भी संज्ञा नहीं है। सर्वभाव से स्वतन्त्रात्मा बनना ही मोक्ष कहलाता है ॥३१॥

❀ आगे आचार्यपाद भी कहेगा –

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संवित् ..... ॥

अर्थात् मोक्ष कोई और वस्तु नहीं है। स्वतंत्र-स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष कहलाता है, जो स्वातन्त्र्य अपनी ही संवित् है ॥

अब आचार्यपाद त्रिकदर्शन-प्रतिपादित मोक्ष की विलक्षणता प्रकट करने के लिए अन्य सभी वादियों से कहे गये मोक्ष के स्वरूप की परीक्षा करते हैं —

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य पूर्णपूर्णप्रथात्मकम् ।
तदुत्तरोत्तरं ज्ञानं तत्तत्संसारशांतिदम् ॥ ३२ ॥

त्रिकसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सभी मतवादियों ने जानने योग्य परमेश्वर का स्वरूप जो अपनी दृष्टि से पूर्णतया प्रतिपादित किया है, वह ज्ञान भी उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा से उस उस संसार-चक्र से मुक्त कराता है, अर्थात् योगाचार आदि के ज्ञान से शून्यवादियों का ज्ञान विशेषरूप से संसार-मोचक बनता है और उन के ज्ञान की अपेक्षा से सांख्यादिकों का ज्ञान अधिकमात्र में मोचक बन जाता है, इसी प्रकार उत्तरोत्तररूपता से पांतञ्जलादि मतावलम्बियों को सांख्यवादियों से भी मोचक ज्ञान उदित होता है, पर इतना होते हुए भी उन्हें ज्ञान अपूर्ण ही होने से पूर्णतया संसार की शांति नहीं होती ॥ ३२ ॥

रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तः
शून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।
इत्थं समासव्यासाभ्यां
ज्ञानं मुञ्चति तावतः ॥ ३३ ॥

'रागाद्यकलुषोऽस्मि' - अर्थात् अहं रूप मुक्तात्मा का स्वरूप राग आदि से अकलुषित होता है — यह ज्ञान योगाचारों का है । भीतर से मुक्तात्मा का स्वरूप शून्य ही है — यह ज्ञान माध्यमिकों का है । मुक्तात्मा पुरुष का स्वरूप कर्तृत्वरहित अर्थात् अकर्ता है — यह ज्ञान सांख्यवादियों का है — इसी प्रकार यह मतवादियों का ज्ञान कहीं समस्तता से और कहीं व्यस्तता से उतने उतने संसार के बन्धनों से मुक्त करता है । सर्वथा पारमार्थिक मुक्ति नहीं देता ॥ ३३ ॥

तस्मान्मुक्तोऽप्यवच्छेदाद्वच्छेदान्तरस्थितेः
अमुक्त एव मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः ॥ ३४ ॥

इस लिए शैव को छोड़ कर जो भी कोई ~~[illegible]~~ सांख्य आदि मतवादी कई सांसारिक बन्धनों से मुक्त भी बना हो, तथापि अन्यान्य बन्धनों के स्थित होने के फल-स्वरूप वह अमुक्त ही है । परमार्थ रूप से मुक्त वही है, जो समस्त बन्धनों से मुक्त बना हो ॥ ३४ ॥ ×

× कहा भी है —

मुक्तंच प्रतिबन्धानं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।
बद्धः संसारतो भूयः यावद्देवं न विन्दति ॥

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम् ॥ ३५ ॥

ज्ञानने योग्य स्वात्मा का ज्ञान जो सर्वप्रकार के अवच्छेदों अर्थात् भेदप्रथात्मक बन्धनों से रहित बना हुआ होता है, वही ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है । वह तो किसी भी अवस्था में अज्ञान नहीं कहलाता है । फलतः वही पारमार्थिक मुक्ति देने वाला होता है ॥ ३५ ॥

अब यहां से आचार्यपाद ज्ञान तथा अज्ञान के स्वरूप की परीक्षा करते हैं —

ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वाभिदोक्तं शिवशासने ॥ ३६ ॥

शिव-शास्त्र में जो ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप कहा गया है, वह तो प्रत्येक अर्थात् ज्ञान और अज्ञान पौरुष और बौद्ध भेद से कहा गया है । अर्थात् ज्ञान भी दो प्रकार का है— पौरुष-ज्ञान और बौद्ध-ज्ञान तथा अज्ञान भी दो प्रकार से कहा है — पौरुष- अज्ञान और बौद्ध- अज्ञान ॥ ३६ ॥

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णाचित्क्रियारूपाशिवतावरणात्मकम् ॥ ३७ ॥
संकोचिताक्रियारूपं तत्पशोराविकल्पितम् ।
तदज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावतः ॥ ३८ ॥

आचार्यपाद इन उपरोक्त दो श्लोकों में प्रथमतः पौरुष- अज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हैं । उन दो ज्ञान और अज्ञान में जो पुरुष-गत अज्ञान अर्थात् पौरुष-अज्ञान है, उसी को वास्तव में मल नाम से कहा गया है । यद्यपि वह अज्ञान परप्रमातृरूप शिव से ही उत्पन्न बना हुआ है तथापि वह अज्ञान अपने चित्क्रियारूप शिवता का आवरण ही करता है और परिपूर्ण चित्-क्रिया अर्थात् ज्ञानक्रियारूपता का त्याग करके संकुचित परिमित ज्ञानक्रिया का स्वरूप अपनाता है, वही अज्ञान पुरुष संबन्धि निश्चित रूप से कहा गया है । स्मरण रहे कि यह अज्ञान बुद्धि में नहीं ठहरा हुआ है, क्योंकि यह निर्विकल्प अर्थात् सविकल्प अध्यवसाय से रहित है, अर्थात् इस पौरुष अज्ञान में अभी भेदरूपता से अध्यवसाय प्रकट नहीं हुआ है ॥ ३८ ॥

अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी ।
षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा ॥३९॥
धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानमज्ञानशब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च ॥४०॥

माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति — इन छ कञ्चुकों से मलिन जीवात्मा से उत्पन्न बने हुए प्रतिबिम्ब से जब बुद्धि में ऐसा निश्चय होने लगता है कि "मैं यह वस्तु इस प्रकार जानता हूं" तो फिर तब वैसा भेद-प्रथात्मक ज्ञान, जो अज्ञान-शब्द से कहा गया है, बौद्ध-अज्ञान कहलाता है। उस अज्ञान को पूर्वोक्त पौरुष-अज्ञान पुष्टि करने योग्य भी है और पुष्टि करने वाला भी है, अर्थात् बौद्ध-अज्ञान के होने से पौरुष-अज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है और पौरुष-अज्ञान होने से बौद्ध-अज्ञान की पुष्टि होती रहती है। भाव यह है कि इन दो अज्ञानों का परस्पर कार्य-कारण-भाव है ॥४०॥

अब आचार्यपाद दो प्रकार अज्ञान निरूपण करके दो प्रकार ज्ञान भी निरूपण करते हैं —

क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरास्थितेः ।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम् ॥४१॥
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावसा ।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्राग्वत्पोष्यं च पोष्टृ च ॥४२॥

परप्रमातृभाव रूप परास्थिति प्राप्त होने पर जब पुरुष के सभी पशुसंस्कार नष्ट होते हैं तब उस का ज्ञान विकस्वर अर्थात् प्रकाशमय निर्विकल्प बन जाता है। उसी को पौरुष-ज्ञान कहते हैं। उसी निर्विकल्प विकस्वर स्वरूप-प्रथनात्मक आत्मज्ञान के साथ साथ जो उसे निश्चय होता है उसी अभेदभावना रूप निश्चय को बौद्धज्ञान कहते हैं, जिस बौद्धज्ञान को वह पौरुषज्ञान उपरोक्त रीति से पोषण करने योग्य बनता है तथा पोषण करने वाला बन जाता है। अर्थात् जैसे दो अज्ञानों का पारस्परिक कार्यकारणभाव था वैसे ही इन दो ज्ञानों का भी है। आशय यह है जितना जितना पौरुष-ज्ञान बढता जायेगा उतना उतना बौद्धज्ञान भी विकासित होता जायेगा तथा जैसे जैसे बोद्ध-ज्ञान की वृद्धि होती जायेगी, वैसे वैसे उस के साथ साथ पौरुष-ज्ञान भी विकास को प्राप्त होता रहेगा ॥४१, ४२॥

तत्र दीक्षादिना पौंस्नमज्ञानं ध्वंसि यद्यपि।
तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम् ॥४३॥

उन दो प्रकार के ज्ञानों में से यद्यपि दीक्षादि-कर्म से पौरुष-अज्ञान नष्ट भी होता है, तथापि साधक के शरीर के अन्त पर ही अर्थात् देहपात के समय ही वह पौरुष-ज्ञान स्फुटरूपता से प्रकट होता है, जिस के फल-स्वरूप उसे शिवभावात्मिका स्थिति प्राप्त होती है। भाव यह है कि दीक्षादि-क्रम से पौरुष-ज्ञान प्रकट होने पर साधक के आणवमल और मायीयमल ही नष्ट होते हैं, परन्तु कार्ममल शरीर को बनाने वाला जो है वह उसे नष्ट नहीं होता; अतः शिवास्थिति उसे शरीर होते हुए पूर्णतया नहीं प्राप्त होती, इत्यतः प्रारब्धकर्म के समाप्त होने पर उसे देहपात के समय ही शिवात्मभाव प्राप्त होती है ॥४३॥

बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥४४॥

किन्तु पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति पर यदि साधक का बौद्ध-अज्ञान भी बौद्ध-ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाये तो उसे फिर जीवन्मुक्ति पूर्णरूपेण प्राप्त होती है। स्मरण रहे यह बौद्धज्ञान तभी जीवन्मुक्ति-प्रद बनता है जब साधक का पौरुष-अज्ञान पहिले नष्ट हुआ हो - इत्यतः निश्चय है कि केवल बौद्ध-ज्ञान से कुछ सिद्ध नहीं होता। हां बौद्ध-ज्ञान का माहिमा तब प्रकट होता है, जब पहिले पौरुष-ज्ञान प्राप्त हुआ हो ॥४४॥

दीक्षापि ■ बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्ति प्रधानता ॥४५॥

सच तो यह है कि पौरुष-ज्ञान-प्रदा दीक्षा भी साधक को तभी फलीभूत हो जाती है, जब साधक के मास्तिष्क में अंशतः बौद्ध-ज्ञान का विकास हुआ हो - इत्यतः इस अंश में भी बौद्ध-ज्ञान की प्रधानत स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है ॥४५॥